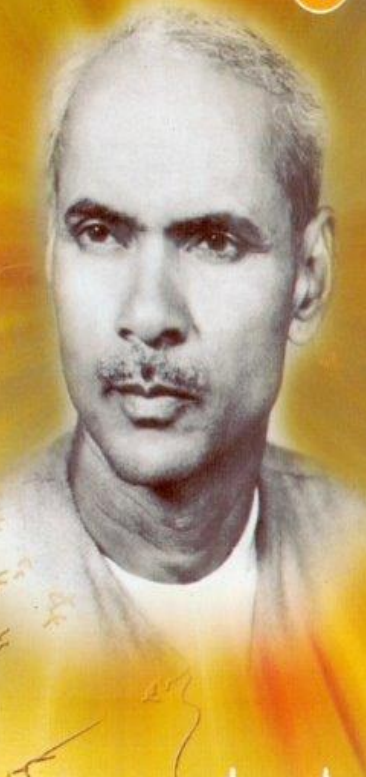


अमर वाणी

1

आमरे के हरे हरे
वात से बंधे
मन से लगे
लगे है लगे
अपने दिल से
लगे है लगे
उसे से लगे है



- पं. श्रीराम शर्मा आचार्य



अमर वाणी

(भाग-1)



लेखक

पं. श्रीराम शर्मा आचार्य



प्रकाशक

श्री वेदमाता गायत्री ट्रस्ट (TMD)

गायत्री नगर, श्रीरामपुरम्- शान्तिकुञ्ज, हरिद्वार

(उत्तराखण्ड) 249411



पुनरावृत्ति सन् 2014

मूल्य-10/-

प्रकाशीय

परम पूज्य गुरुदेव की घोषणानुसार युग परिवर्तन एक सुनिश्चित संभावना है। युग निर्माण योजना इसी संभावना को साकार करने के लिए बनाई गयी है। युग निर्माण कैसे होगा? इसके सरंजाम कैसे जुटेंगे? तथा इसके भागीदारों का चरित्र-चिंतन कैसा होना चाहिए? इसका विस्तार पूर्वक वर्णन वाङ्मय के खण्ड ६६ में किया गया है।

प्रस्तुत पुस्तिका में 'युग निर्माण योजना-दर्शन स्वरूप व कार्यक्रम' वाङ्मय क्र. ६६ के चुने हुए अंशों को संकलित किया गया है। उसमें नैष्ठिक परिजनों को झकझोर देने वाली पूज्यवर की अमर-वाणी है। इसे प्रत्येक परिजन को ध्यान पूर्वक पढ़ना चाहिए तथा पढ़कर चिंतन-मनन करते हुए आचरण में उतारने का प्रयास करना चाहिए।

आशा है यह पुस्तक हम सबके भीतर प्रकाश की एक नई किरण बनाकर हमारा पथ प्रदर्शन करेगी।

हमारा आत्मवादी जीवन दर्शन

आत्मसम्मान के नाम पर कई बार ओछे स्तर का अहंकार विदूषक जैसा वेष बनाकर सामने आ खड़ा होता है। हमें अहंकार और आत्मसम्मान का अन्तर समझना चाहिए। अहंकार वस्तुओं और परिस्थितियों को खोजता है और उनके आधार पर रुष्ट, तुष्ट होता है, जबकि आत्म-गौरव आन्तरिक स्तर पर-गुण, कर्म, स्वभाव के स्वरूप पर आकांक्षाओं और विचारणाओं की दिशा पर आधारित रहता है। जिसकी अन्तःभूमि उज्ज्वल है उसे बाह्य परिस्थितियों से कुछ लेना-देना नहीं रह जाता। उसे भौतिक जीवन की सफलता, असफलताएँ प्रभावित नहीं करती। सम्पदाएँ नहीं आन्तरिक विभूतियाँ उसकी सन्तुष्टि का केन्द्र रहती है। अहंकारी व्यक्ति जहाँ बाह्य प्रतिकूलताएँ देखकर ही असन्तुलित और रुष्ट-असन्तुष्ट होने लगता है वहाँ आत्मवादी को आन्तरिक स्तर की उत्कृष्टता ही परिपूर्ण सन्तोष दे सकने के लिए पर्याप्त प्रतीत होती है।

—वाङ्मय ६६-१-२२

अनैतिक कार्यों में ज्ञान का उपयोग 'ब्रह्मराक्षस' की घृणित भूमिका है

सामन्तवादी युग में यह विद्या पैसे से खरीदी जाती रही। उनकी विलासी दुष्प्रवृत्तियों के पोषण में कविता साहित्य, गीत, नाटक आदि बड़ी मात्रा में सृजे जाते रहे। मन्दिरों में पाई जाने वाली मूर्तिकला तक में पशु-प्रवृत्तियों की भरमार मौजूद है। वैसे ही चित्र चित्रित किये जाते रहे। यह सब विद्या बुद्धि का दुरुपयोग है। हमारे क्रमिक

अधःपतन में यही दुष्प्रवृत्तियाँ प्रधान रूप से कारण बनती चली आई हैं। आततायियों और आक्रमणकारियों ने भी क्षति पहुँचाई पर इस बौद्धिक क्षति ने तो समाज का मेरुदण्ड ही तोड़कर रख दिया।

आज जबकि घायल समाज को राहत देने वाले साहित्य की जरूरत थी, उद्बोधन आवश्यक थे, तब भी वह ढर्रा बदला नहीं है, वरन् स्वतन्त्रता मिलने के बाद विनाश की स्वतन्त्रता का भरपूर उपयोग किया जा रहा है। धर्म मंच से जो प्रवचन किए जाते रहते हैं उनमें गढे मुर्दे उखाड़ने के अतिरिक्त जीवन संचार और प्रगति के लिये उद्बोधन की दिशा दे सकने वाले तथ्य कहीं ढूँढे नहीं मिलते। व्यक्ति और समाज के युग निर्माण के आधारभूत सिद्धान्तों की कहीं चर्चा तक सुनाई नहीं देती। विद्या से सजी वाणी द्वारा लोकमानस को उद्बोधन मिलना चाहिए था, वह एक प्रकार से मौन ही हो गया है। साहित्य की दशा और भी दयनीय है। पशु प्रवृत्तियों को भड़काने वाला साहित्य लिखा जा रहा है छप रहा है, बिक रहा है। उसी की बाढ़ आई हुई है। लगता है इस बाढ़ में जो कुछ श्रेयस्कर कहीं जीवित रहा होगा वह भी मर-खप जायेगा।

बहेलियों के पास शिकारी कुत्ते होते हैं। खरगोश, लोमड़ी, हिरण आदि जानवरों के पीछे वे उन्हें दौड़ाते हैं। कुत्ते कई मील दौड़कर भारी परिश्रम के उपरान्त शिकार दबोचे हुए मुँह में दबाये घसीट लाते हैं। बहेलिये उससे अपनी झोली भरते हैं और कुत्तों को एक टुकड़ा देकर सन्तुष्ट कर देते हैं। यही क्रम आज विद्या बुद्धि के क्षेत्र में चल रहा है। पुस्तक-प्रकाशक बहेलिए-तथाकथित साहित्यकारों से चटपटा लिखाते रहते हैं। गन्दे, अश्लील, कामुक,

पशु प्रवृत्तियाँ भड़काने वाले चोरी, डकैती, ठगी की कला सिखाने वाले उपन्यास यदि इकट्ठा किए जाएँ तो वे एवरेस्ट की चोटी जितने ऊँचे हो जाएँगे। दिशाविहीन पाठक उन्हीं विष मिश्रित गोलियों को गले निगलता रहता है। चूहों को मारने की दवा आटे में मिलाकर गोलियाँ बनाकर बिखेर दी जाती है, उन्हें खाते ही चूहा तड़प-तड़प कर मर जाता है। यह साहित्य ठीक इसी प्रकार का है। इसे पढ़ने के बाद कोई अपरिपक्व बुद्धि पाठक वैसा ही अनुकरण करने के लिए विवश होता है। अनेक साहित्यकार बहेलियों के कुत्तों की भूमिका प्रस्तुत कर रहे हैं। अनेक प्रकाशक और विक्रेता मालामाल हो रहे हैं। कुछ टुकड़े खाकर यह साहित्यकार पाठकों का माँस इन आततायियों के पेट में पहुँचाने में अपनी विद्या बुद्धि, कला-कौशल का परिचय दे रहे हैं। विद्या माता को व्यभिचारिणी वेश्या के रूप में जिस तरह प्रस्तुत किया जा रहा है, उसे देखकर यही कहना पड़ता है-“हे भगवान इस संसार से विद्या का अस्तित्व मिटा दो, इससे तो हमारी निरक्षरता ही अच्छी है।”-वाङ्मय ६६-१-३५

युग निर्माण का आधार व्यक्ति-निर्माण

बच्चा आरम्भ में एक पैसा चुराने की आदत सीखता है, बड़ा होने पर वह कुछ बड़ी-चढ़ी गड़बड़ी करने लगता है, समयानुसार बड़े हाथ मारने की क्षमता प्राप्त करता है और परिस्थितियाँ अनुकूल रहें तो एक दिन नामी चोर होकर जेलखाने पहुँचता है। सभी उसे घृणा की दृष्टि से देखते हैं, कोई अपना नहीं रह जाता। सर्वत्र निन्दा, असहयोग, घृणा ही उसे प्राप्त होती है और कठिनाइयों से पार निकलने का कोई रास्ता दिखाई नहीं देता। एक दूसरा बच्चा उसी का साथी

ईमानदारी पर दृढ़ आस्था जमाता है। माँ-बाप उस पर भरोसा करते हैं, अध्यापक उस पर प्रेम और गर्व करते हैं, बड़ा होने पर जहाँ वह कारोबार करता है, वहाँ उसका सम्मान देवता की तरह होता है और अपने कृपालुओं की सहायता से वह बहुत ऊँची स्थिति तक जा पहुँचता है। आरम्भ में इन बालकों के स्वभाव में थोड़ा-सा अन्तर था। एक-दो पैसा चुराने न चुराने या उससे खरीदी जा सकने वाली वस्तु के मिलने न मिलने का कोई बड़ा महत्त्व न था पर इसी भिन्नता ने जब अपनी परिपक्वता प्राप्त की तो दोनों में इतना अन्तर आ गया कि उसका कोई अन्दाजा नहीं।

—वाङ्मय ६६-२-८

बुराई और भलाई की परस्पर विरोधी वृत्तियाँ आरम्भ में बहुत छोटे रूप में होती हैं पर उनका परिपोषण होते रहने से धीरे-धीरे बड़ा विशाल रूप बन जाता है। व्यभिचार का आरम्भ हँसी-दिल्लगी या छोटी उच्छ्रंखलता से होता है, इस मार्ग पर बढ़ते हुए कदम किसी नारी को वेश्या बना सकते हैं। इसके विपरीत यदि सदाचार के प्रति थोड़ी दृढ़ता रहे तो वही वृत्ति उसे आदर्श पतिव्रता के रूप में अजर-अमर बना सकती है। कामचोरी और आलस्य की वृत्ति आरम्भ में छोटी-छोटी उपेक्षा या टालमटोल के रूप में दिखाई पड़ती है पर अन्त में वही व्यक्ति आलस्य, प्रमाद और लापरवाही में अपना सब कुछ गँवा कर दर-दर की ठोकें खाते-फिरने की स्थिति में पहुँच जाता है। एक-दूसरा व्यक्ति जिसे परिश्रम में अपना गौरव और चमकता भविष्य दीखता है, निरन्तर हँसी-खुशी के साथ परिश्रम करता रहता है और इसी पुरुषार्थ के बल पर वह उन्नति के उच्च शिखर पर पहुँचता है।

—वाङ्मय ६६-२-८, ९

अमर-वाणी (6)

मानसिक स्वच्छता का महत्त्व

मन की चाल दुमुँही है। जिसप्रकार दुमुँहा साँप कभी आगे चलता है, कभी पीछे। उसी प्रकार मन में दो परस्पर विरोधी वृत्तियाँ काम करती रहती हैं। उनमें से किसे प्रोत्साहन दिया जाए और किसे रोका जाए यह कार्य विवेक-बुद्धि का है। हमें बारीकी के साथ यह देखना होगा कि इस समय हमारे मन की गति किस दिशा में है। यदि सही दिशा में प्रगति हो रही है तो उसे प्रोत्साहन दिया जाये और यदि दिशा गलत है तो उसे पूरी शक्ति के साथ रोका जाए और, इसी में बुद्धिमत्ता है क्योंकि सही दिशा में चलते हुए मन जहाँ हमारे लिए श्रेयस्कर परिस्थितियाँ उत्पन्न कर सकता है वहाँ कुमार्ग पर चलते रहने में एक दिन दुःखदायी दुर्दिन का सामना भी करना पड़ता है। इसलिए समय रहते चेत जाना ही उचित है।—वाङ्मय ६६-२-१०

हमारा आन्तरिक महाभारत

मनुष्य के अन्तःकरण में दो प्रवृत्तियाँ रहती हैं, जिन्हें आसुरी एवं दैवी प्रकृति कहते हैं। इन दोनों में सदा परस्पर सैधर्ष चलता रहता है। गीता में जिस महाभारत का वर्णन है और अर्जुन को जिसमें लड़ाया गया है वह वस्तुतः आध्यात्मिक युद्ध ही है। आसुरी प्रवृत्तियाँ बड़ी प्रबल हैं। कौरवों के रूप में उनकी बहुत बड़ी संख्या है, सेना भी उसकी बड़ी है। पाण्डव पाँच ही थे उनके सहायक एवं सैनिक भी थोड़े ही थे फिर भी भगवान ने युद्ध की आवश्यकता समझी और अर्जुन से कहा—लड़ने के अतिरिक्त और कोई मार्ग नहीं। तामसिक-आसुरी प्रकृति का दमन किये बिना सतोगुणी दैवी प्रकृति का अस्तित्व ही खतरे में पड़ जाएगा। इसलिए लड़ना जरूरी है। अर्जुन पहले तो

झंझट में पड़ने से कतराये पर भगवान ने जब युद्ध को अनिवार्य बताया तो उसे लड़ने के लिए कटिबद्ध होना पड़ा। इस लड़ाई को इतिहास 'महाभारत' के नाम से पुकारते हैं। अध्यात्म की भाषा में इसे 'साधना समर' कहते हैं।

देवासुर-संग्राम की अनेक कथाओं में उसी 'साधना समर' का अलंकारिक निरूपण है। असुर प्रबल होते हैं, देवता उनसे दुःख पाते हैं, अन्त में दोनों पक्ष लड़ते हैं, देवता अपने को हारता-सा अनुभव करते हैं, वे भगवान के पास जाते हैं, प्रार्थना करते हैं, भगवान उनकी सहायता करते हैं। अन्त में असुर सारे मारे जाते हैं, देवता विजयी होते हैं। देवासुर संग्राम के अगणित पौराणिक उपाख्यानों की पृष्ठभूमि यही है। हमारा अन्तःप्रदेश ही वह धर्म क्षेत्र है, जिसमें महाभारत होता रहता है। असुर मायावी है। तमोगुण का असुर हमें माया में फँसाये रहता है। इन्द्रिय-सुखों का लालच देकर वह अपना जाल फैलाता है और अपने मायापाश में जीव को बाँध लेता है। उस असुर के और भी कितने ही अस्त्र-शस्त्र हैं जिनसे जीव को अपने वशवर्ती करके पद-दलित करने में वह सफल होता है। काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सर यह छह ऐसे ही सम्मोहन अस्त्र हैं, जिसमें मूर्छित होकर जीव बँध जाता है और वह मूर्छा ऐसी होती है कि उससे निकलने की इच्छा भी नहीं होती है वरन् उसी स्थिति में पड़े रहने को जी चाहता है।

आत्मा का कल्याण उस तम प्रवृत्ति में पड़े रहने से नहीं हो सकता जिसमें माया-मोहित अगणित जीव पाशबद्ध स्थिति में पड़े रहते हैं। इन बन्धनों को काटे बिना कल्याण का और कोई मार्ग नहीं। आत्मा की पुकार 'तमसो मा ज्योतिर्गमय' की है। वह अन्धकार से

प्रकाश की ओर जाना चाहती है। तम अन्धकार और सत ही प्रकाश है, उसको धारण करने का 'प्रयत्न ही साधना' है। साधना को जीवन की अनिवार्य आवश्यकता माना गया है। तम की दुष्प्रवृत्तियों से छुटकारा केवल इस एक ही उपाय से हो सकता है। सच्ची शान्ति और प्रगति का मार्ग भी यही है।

अन्तरात्मा में निरन्तर चलने वाले देवासुर-संग्राम में तामसिकता का पक्ष भौतिक सुख-साधन इकट्ठे करते रहना और सात्विकता का पक्ष आत्म-कल्याण की दिशा में अग्रसर होने का है। जब दोनों में से एक पक्ष प्रबल हो उठता है तो संग्राम में तेजी दिखाई देने लगती है। यदि असुरता प्रबल हुई तो दुष्प्रवृत्तियों की अभिवृद्धि होकर पतन का नारकीय परिपाक सामने आ जाता है और यदि सुर पक्ष प्रबल हुआ तो सत्प्रवृत्तियों का उभार आता है और मनुष्य सत्पुरुष, महा-मानव ऋषि एवं देवदूत बनकर पूर्णता के लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए द्रुतगति से आगे बढ़ता है।

एक बीच की स्थिति ही, रजोगुण ही अवसाद भूमिका कहलाती है। इसमें तम और सत् दोनों मिले रहते हैं। लड़ाई बन्द हो जाती है और काम-चलाऊ समझौता सा करके दैवी और आसुरी तत्व एक ही घर में रहने लगते हैं, भले और बुरे दोनों की तरह काम मनुष्य करता रहता है। पाप के प्रति घृणा न रहने से, आत्मिक प्रगति की ओर कोई विशेष उत्साह न रहने से दिन काटने की जैसी स्थिति बन जाती है। जैसे मन्द विष पीकर मूर्छित हुए अर्द्धमृत प्राणी की होती है। मानव जीवन जैसा अलभ्य अवसर प्राप्त होने पर इस प्रकार का अवसाद चिन्ताजनक ही है।

-वाङ्मय ६६-२-१४

अमर-वाणी (9)

आज फिर नये सिरे से हमें उसकी चर्चा जारी करनी होगी, सोई हुई शक्ति को फिर से जगाना होगा, अहंकार को दबा कर रखना होगा। हम दिव्य लोक के जीव हैं, यह ज्ञान हमें फिर से पाना होगा, यही सतयुग की स्थापना करेगा, इसीलिए हमें साधना और तपस्या करनी है। यदि इस प्रयत्न से एक बार भी हम लोग उस स्थान तक पहुँच गये तो पीड़ाओं तथा वेदनाओं से छुटकारा पाकर सिद्ध बनकर सत्य और आनन्द की लीला में प्रविष्ट होकर इस मृत्युलोक को ही स्वर्ग में बदल देंगे। सतयुग के लोग स्वर्गलोक का पता लगाकर इस भूलोक को छोड़ कर वहाँ उस महत् लोक में पहुँचते थे। लेकिन हम लोग स्वर्गलोक के अधिकारी बनकर इस पृथ्वी को नहीं त्यागेंगे हम इस मृत्युलोक में ही स्वर्ग की लीला का आनन्द लेंगे।

-वाङ्मय ६६-२-४५

जब तक माया के फंदे से जीव नहीं छूटता है और भेद-भाव के विचार मन में भरे रहते हैं तब तक उसे वास्तविक ज्ञान नहीं होता है। माया के फंदे से छूटकर और भेदभाव के विचारों को भावनाओं को निकालने पर ही उसे ज्ञान होता है, तब दिव्य दृष्टि से देखने लगता है। उसमें तथा ब्रह्म में किसी प्रकार का अन्तर नहीं रह जाता, वास्तव में समस्त ब्रह्माण्ड, यह संसार, हमारा शरीर सभी कुछ ब्रह्ममय है इसलिए इस तरह का ब्रह्मज्ञान प्राप्त कर मृत्युलोक में विचरण करते हुए एक बार फिर से सतयुग की स्थापना करने का भार हम लोगों के ऊपर है जिसे पूरा करना है। नूतन समाज के निर्माण की-नये युग के निर्माण की-जिम्मेदारी हमें उठानी ही होगी।

-वाङ्मय ६६-२-४५

बुराइयों के विरुद्ध संघर्ष

बुराइयों की होली जलाई जा सकती है। जिस प्रकार रामलीला का कागजी रावण मरता है, सूर्यणखा की हर साल नाक कटती है, होली के अवसर पर होलिका राक्षसी की चिता जलाई जाती है, उसी प्रकार अश्लीलता, नशेबाजी, बेईमानी एवं कुरीतियों की होली जलाई जा सकती है और उनके विरुद्ध जन-मानस में घृणा उत्पन्न की जा सकती है। हमें यह पूरा-पूरा ध्यान रखना होगा कि कोई अशान्ति, उत्तेजना या उपद्रव जैसी बात न होने पावे। किसी को चिढ़ाया न जाए, यदि विरोध में कोई कुछ अनुचित व्यवहार भी करे तो पूर्ण शान्त रहा जाए और मुस्कान एवं विनम्रता से उसका उत्तर दिया जाए।

इस प्रकार के अगणित प्रचारात्मक, सुधारात्मक, आन्दोलनात्मक, विरोधारात्मक, प्रदर्शनात्मक, रचनात्मक एवं सेवात्मक कार्यक्रम हो सकते हैं। स्थानीय परिस्थितियों के अनुसार विभिन्न योजनाएँ बन सकती हैं। बड़ों के पैर छूने की, कष्ट पीड़ितों की सेवा करने की और पाठशालाएँ चलाकर विचारात्मक शिक्षा देने की योजना बन सकती है।

युग-निर्माण की दिशा में उक्त कार्यक्रम पिछले कई वर्षों से भली-भाँति चल रहा है, उसे अब और भी सुव्यवस्थित रूप दिया जाना चाहिए। किन्तु आत्मिक उत्कृष्टता और भौतिक श्रेष्ठता के दोनों लक्ष्य प्राप्त करने के लिए अब तक के चलते आ रहे अभियान को जितना अधिक हो सके सुव्यवस्थित रूप दिया जाए और इसे सुसंयत रूप से अग्रगामी बनाया जाए। अखण्ड ज्योति जिस मिशन को लेकर अवतीर्ण हुई थी उसे उसने अब तक बहुत शानदार ढंग से निकाला है। अब आगे भी उसे जी जान से जुटे रहना है, लक्ष्य की पूर्ति के लिए हम-सब को अब उसी ओर द्रुतगति से अग्रसर होना है।-वाङ्मय ६६-२-५३

हमारे दो कार्यक्रम

हम आत्म-कल्याण और युग-निर्माण इन दो कार्यक्रमों को लेकर आगे बढ़ रहे हैं। गाड़ी के दो पहियों की तरह हमारे जीवन के दो पहलू हैं—एक भीतरी दूसरा बाहरी। दोनों के सन्तुलन से ही हमारी सुख-शान्ति स्थिर रह सकती है और इसी स्थिति में प्रगति सम्भव है। मनुष्य आत्मिक दृष्टि से पतित हो, दुर्मति-दुर्गुणी और दुष्कर्मी हो तो बाहरी जीवन में कितनी ही सुविधाएँ क्यों न उपलब्ध हों वह दुःखी ही रहेगा। इस प्रगति की यदि बाह्य परिस्थितियाँ दूषित हैं तो आन्तरिक श्रेष्ठता भी देर तक टिक न सकेगी। असुरों के प्रभुता काल में बेचारे सन्त महात्मा जो किसी का कुछ नहीं बिगाड़ते थे अनीति के शिकार होते रहते थे। भगवान राम जब वनवास में थे तब उन्होंने असुरों द्वारा मारे गये सन्त महात्माओं की अस्थियों के ढेर लगे देखकर बहुत दुःख मनाया। जिस समाज में दुष्टता और दुर्बुद्धि बढ़ जाती है उसमें सत्पुरुष भी न तो अपनी सज्जनता की और न अपनी ही रक्षा कर पाते हैं। इसलिए जीवन के दोनों पहलू ही रथ से जुते हुए दो घोड़ों की तरह संभालने पड़ते हैं। दोनों में ताल-मेल बिठाना पड़ता है। रथ का एक घोड़ा आगे की ओर चले और दूसरा पीछे की तरफ लौटे तो प्रगति अवरूद्ध हो जाती है। इसी प्रकार हमारा बाह्य जीवन और आन्तरिक स्थिति दोनों का समान रूप से प्रगतिशील होना आवश्यक माना गया है।—वाङ्मय ६६-२-५३, ५४

आत्मा सूक्ष्म है, निराकार है। स्थूल वस्तुओं की सहायता से ही उसका अस्तित्व और आकार सामने आता है। शरीर के आधार पर वह कार्य करता है, मन के आधार पर वह सोचता है और संसार क्षेत्र

में गतिशील रहता है। शरीर, मन और संसार यह तीनों ही आत्मा के बाह्य शरीर हैं। इन तीनों की सुव्यवस्था पर आत्मिक स्थिरता निर्भर रहती है। आत्म-कल्याण के लिए ईश्वर उपासना एवं योग साधना की आवश्यकता होती है; यह हमारी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण आवश्यकता है। इसकी पूर्ति के लिए ऋषियों एवं शास्त्रों ने हमें कुछ न कुछ समय नित्य लगाते रहने का आदेश दिया है। उपासना और साधना रहित व्यक्ति की आत्मा मलीन और पतनोन्मुख हो जाती है, स्वार्थ और भोग का नशा उसे पाप की नारकीय ज्वाला में घसीट ले जाता है। इसीलिए अपने अस्तित्व का सही रूप जानने और अपने लक्ष्य के प्रति गतिशील रहने के लिए उसे अध्यात्म का सहारा लेना पड़ता है। आत्म-कल्याण का यही मार्ग है।

जीवन के तीन आधार

जितनी आवश्यकता आत्म-कल्याण की है उतनी ही जीवन के तीन आधारों को स्वास्थ्य रखने की है। शरीर, मन और समाज यही तीन आधार हैं, जिन पर हमारी जीवन-यात्रा गतिमान रहती है। शरीर अपंग हो जाए, मन उन्मादग्रस्त हो जाए और संसार में युद्ध, दुर्भिक्ष, महामारी, भूकम्प जैसी आपत्तियाँ उत्पन्न हो जाएँ तो कहाँ तो शान्ति रहेगी और कहाँ प्रगति टिकेगी? आत्म-कल्याण का लक्ष्य भी इन परिस्थितियों में किस प्रकार उपलब्ध हो सकेगा?

राज-शासन और सामाजिक संस्थाओं द्वारा यह प्रयत्न किसी न किसी रूप में रहता ही है कि जनता का शरीर मन और सामाजिक स्तर सुस्थिर रहे, इसके बिना भौतिक प्रगति के सारे प्रयत्न निष्फल रहेंगे। जिस देश के निवासी बीमारी और कमजोरी से घिरे हों, मनो

में अविवेक, अन्धविश्वास, असन्तोष घर किए हुए हो, समाज में द्वेष असहयोग, अनीति, पाप स्वार्थ जैसी प्रवृत्तियाँ पनप रही हों तो उस देश का भविष्य उज्ज्वल कैसे हो सकता है ? चाहे कोई देश हो या समाज, गाँव हो या घर, परिवार हो या व्यक्ति जहाँ भी यह असन्तुलन रहेगा, वहाँ न सुख दृष्टिगोचर होगा न शान्ति । पतन और पीड़ा, विक्षोभ और असफलता ही वहाँ फैली-फूटी दिखाई पड़ेगी ।

-वाङ्मय ६६-२-५४

एक समस्या के दो पहलू

भौतिकता और आध्यात्मिकता परस्पर दोनों एक दूसरे से जुड़ी हुई हैं, एक के बिना दूसरी अधूरी है । जंगल में गुफा में भी रहने वाले विरक्त महात्मा को भोजन, प्रकाश वस्त्र, माला, कमण्डल, आसन, खड़ाऊँ, पुस्तक, कम्बल, आग आदि वस्तुओं की आवश्यकता रहेगी ही और इन सब को जुटाने को प्रयत्न करना ही पड़ेगा, इसके बिना उसका जीवित रहना भी सम्भव न रहेगा । इतनी भौतिकता तो गुफा निवासी महात्मा को भी बरतनी पड़ेगी और अपने परिवार के प्रति प्रेम और त्याग बरतने की आध्यात्मिकता चोर-उठाईगीर और निरंतर भौतिकवादी को भी रखनी पड़ेगी । भौतिकता को तमतत्त्व और आध्यात्मिकता को सततत्त्व, माना गया है । दोनों के मिलने से रजतत्त्व बना है । इसी में मानव की स्थिति है । एक के भी समाप्त हो जाने पर मनुष्य का रूप ही नहीं रहता । तम नष्ट होकर सत ही रह जाए तो व्यक्ति देवता या परमहंस होगा, यदि सत नष्ट होकर तम ही रह जाए तो असुरता या पैशाचिकता ही बची रहेगी । दोनों स्थितियों में मनुष्यत्व का व्यतिरेक हो जाएगा । इसलिए मानव जीवन की स्थिति

जब तक है तब तक भौतिकता और आध्यात्मिकता दोनों ही साथ-साथ रहती हैं। अन्तर केवल प्राथमिकता का है। सज्जनों के लिए आध्यात्मिकता की प्रमुखता रहती है, वे उसकी रक्षा के लिए भौतिक आधार की बहुत अंशों तक उपेक्षा भी कर सकते हैं। इसी प्रकार दुर्जनों के लिए भौतिकता का स्थान पहला है। वे उस प्रकार के लाभों के लिए आध्यात्मिक मर्यादाओं का उल्लंघन भी कर देते हैं। इतने पर भी दोनों ही प्रकृति के लोग किसी न किसी रूप में भौतिक और आत्मिक तथ्यों को अपनाते ही हैं, उन्हें अपनाये ही रहना पड़ता है।

आस्तिकता की अभिवृद्धि से विश्व कल्याण की सम्भावना

यह संसार भगवान द्वारा विनिर्मित और उसी से ओत-प्रोत है। यहाँ जो कुछ श्रेष्ठता दिखाई पड़ती है वह सब भगवान की ही विभूति है। जीव ईश्वर का ही पुत्र-अंश है। उसमें जो कुछ तेज और ऐश्वर्य दिखाई पड़ता है वह ईश्वरीय अंशों की अधिकता के कारण ही उपलब्ध होता है। आत्मा की प्रगति उन्नति और विभूति की संभावना भगवान के सान्निध्य में ही संभव होती है।

समस्त सद्गुणों का केन्द्र परमात्मा है। जिस प्रकार पृथ्वी पर ताप और प्रकाश सूर्य से ही आता है उसी प्रकार मनुष्य की आध्यात्मिक श्रेष्ठताएँ और विभूतियाँ परमात्मा से ही प्राप्त होती हैं। इस संसार में समस्त दुःख पापों के ही परिणाम हैं। अथवा मनुष्य अपने किये पापों का दण्ड भुगता है या फिर दूसरों के पापों के लपेट में आ जाता है। दोनों प्रकार के दुःखों के कारण पाप ही होते हैं। यदि पापों को मिटाया जा सके तो समस्त दुःख दूर हो सकते हैं। यदि पापों को

घटाया जा सके तो मानव जाति के दुःखों में निश्चय ही कमी हो सकती है। कुविचारों और कुकर्मों पर नियंत्रण धर्म-बुद्धि के विकसित होने से ही संभव होता है और यह धर्म-बुद्धि परमात्मा पर सच्चे मन से विश्वास रखने से उत्पन्न होती है। जो निष्पक्ष, न्यायकारी, परमात्मा को घट-घटवासी और सर्वव्यापी समझेगा उसे सर्वत्र ईश्वर ही उपस्थित दिखाई पड़ेगा, ऐसी दशा में पाप करने का साहस ही उसे कैसे होगा? पुलिस को सामने खड़ा देखकर तो दुस्साहसी भी अपनी हरकतें बन्द कर देता है। इसी प्रकार जो व्यक्ति परमात्मा को निष्ठापूर्वक कर्म फल देने वाला और सर्वव्यापी समझ लेगा वह आस्तिक व्यक्ति पाप करने की बात सोच भी कैसे सकेगा?

ईश्वर का अविश्वास ही पापों की जड़ है, इस अविश्वास से प्रेरित होकर ही मनुष्य मर्यादाओं का उल्लंघन करके स्वार्थ और अहंकार की पूर्ति के लिए स्वेच्छाचारी बन जाता है। आत्म-नियंत्रण के लिए ईश्वर विश्वास अनिवार्य आवश्यकता मानी गई है। व्यक्तिगत सदाचार और सामूहिक कर्तव्य-परायणता के पालन के लिए ईश्वरीय विश्वास के अतिरिक्त और कोई मार्ग नहीं हो सकता। इसलिए मनीषियों ने मनुष्य के दैनिक आवश्यक कर्तव्यों में ईश्वर उपासना को सबसे प्रमुख और अनिवार्य माना है। जो इसको उपेक्षा करते हैं उनकी भर्त्सना की है और उन्हें कई प्रकार के दण्डों का भय भी बताया है।

खेद है कि आज नास्तिकता की सत्यानाशी बाढ़ तेजी से बढ़ती चली जा रही है। भौतिकतावादी विचारधाराओं ने यह प्रतिपादित किया है कि ईश्वर न तो आँखों से दिखाई पड़ता है और न प्रयोगशालाओं

की जाँच द्वारा सिद्ध होता है इसलिए उसे मानने की आवश्यकता नहीं। अति उत्साही लोग इतनी बात से बहक जाते हैं, न तो वे कर्म आस्था पर विश्वास करते हैं, और न उपासना की कोई आवश्यकता अनुभव करते हैं।

दूसरे प्रकार के नास्तिक इनसे भी गये-बीते हैं। वे अपने को आस्तिक कहते और किसी ईश्वर को मानते भी हैं पर उनका यह कल्पित ईश्वर वास्तविक ईश्वर से भिन्न होता है। वे समझते हैं कि ईश्वर तो केवल पूजा-स्तुति ही चाहता है, इतने से ही प्रसन्न होकर मनुष्य के पापों पर ध्यान नहीं देता। पूजा करने वालों के समस्त पाप किसी सामान्य धार्मिक कर्मकाण्ड के कर लेने से दूर हो जाते हैं। साथ ही वे ईश्वर से यह आशा रखते हैं कि जरा से पाठ-पूजन के बदले, बिना उनकी योग्यता, पुरुषार्थ और लगन की जाँच किए, वह मनमाना वरदान दे सकता है। और उनकी समस्त कामनाओं की पूर्ति कर सकता है। यह लोग ऐसा भी सोचते हैं कि साधु ब्राह्मण, परमात्मा के अधिक निकट हैं, इसलिए यदि उन्हें दान-दक्षिणा देकर प्रसन्न कर लिया जाए तो अपनी तगड़ी सिफारिश परमात्मा के यहाँ पहुँच जाती है और फिर तुरन्त ही मनमाने वरदान पाने और पाप के दण्ड से बचने की सुविधा हो सकती है। हम देखते हैं कि आजकल नाममात्र की आस्तिकता इसी विडम्बना की धुरी पर घूम रही है।

यह प्रच्छन्न नास्तिकता दिखाई तो ईश्वर विश्वास जैसी ही पड़ती है, पर इससे लाभ के स्थान पर हानि ही अधिक होती है। आस्तिकता का असली लाभ पाप से भय-उत्पन्न करना है। इसके

विपरीत जिस मान्यता के अनुसार दस-पाँच मिनट में पूरे हो सकने वाले कर्मकाण्डों द्वारा ही समस्त पापों का फल नष्ट हो सकने का आश्वासन दिया गया हो, उससे तो उलटे पाप के प्रति निर्भयता ही बढ़ेगी। जब पाप-फल से बच सकना इतना सरल मान लिया गया तो दुष्कर्मों द्वारा प्राप्त होने वाले आकर्षणों को छोड़ना कौन पसंद करेगा? ऐसी मान्यता से प्रभावित होकर मध्यकालीन राजाओं और सरदारों ने बर्बर अत्याचार और अनैतिक आचारण करने के साथ-साथ पूजा-पाठ के भी बड़े-बड़े आयोजन किए थे। उन्होंने मंदिर भी बनवाये और भगवान को प्रसन्न करने वाले उत्सव आदि भी किये। पंडितों और ब्रह्मणों को कथा-भजन करने के लिए वृत्तियाँ भी दीं। सम्भवतः वे यही समझते थे कि उनका पहाड़ के बराबर अनैतिकता का कार्य-क्रम इस प्रकार धन द्वारा रचाई पूजा-पाठ की धूमधाम के पीछे छिप जाएगा। पंडितों और पुजारियों ने अपनी आजीविका की दृष्टि से ऐसे आश्वासन भी गढ़ कर रख दिए, जिससे कुमार्गगामी व्यक्ति थोड़ा-बहुत दान-पुण्य करते रहने को तत्पर रहें। दान-पुण्य की परिभाषा भी इन लोगों ने बड़े विचित्र ढंग से की कि केवल ब्राह्मण वंश में उत्पन्न हुये व्यक्ति को जो कुछ दिया जाएगा, वह अवश्य पुण्य माना जाएगा।

विचार करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि इस प्रकार की अज्ञानमूलक धारणा व्यक्ति और समाज के लिए हानिकारक परिणाम ही उपस्थित कर सकती है। पापों के दण्ड से बच निकलने का आश्वासन पाकर लोग चरित्रगठन की उपेक्षा करने लगे, पापों का भय जाता रहा। ऐसी अनेक कथा कहानियाँ गढ़ी गईं जिनमें निकृष्ट

से निकृष्ट कर्म जीवन भर करते रहने वाले व्यक्ति केवल एक बार अनजाने-धोखे से-‘नारायण’ का नाम लेने से मुक्त हो गये। इन कथाओं से सत्कर्मों की व्यर्थता सिद्ध होती है और प्रतीत होने लगता है कि जीवन-शोधन के लिए श्रम और त्याग करने की अपेक्षा थोड़ा-बहुत पूजा पाठ कर लेना ही अधिक सुविधाजनक है। ऐसी शिक्षा देने वाला आध्यात्म वस्तुतः अपने लक्ष्य से ही भ्रष्ट हो जाता है। आस्तिकता का मुख्य उद्देश्य मनुष्य को सदाचारी और कर्तव्य परायण बनना है। यदि इस बात को भुलाकर लोग देवताओं को माँस, मदिरा या मिष्ठान्न की रिश्वत देकर मनमाने लाभ प्राप्त करने की बात सोचने लगे तो यह माना जाएगा कि उन्होंने ईश्वर को भी रिश्वत लेकर उल्टा-सीधा, काम करने वाला मान लिया है, फिर तप, त्याग, संयम, धर्म, कर्तव्य आदि के कष्टसाध्य मार्ग की उपयोगिता क्या रह जाएगी? जब ईश्वर अपनी प्रतिमा के दर्शन करने वाले, स्तुति गाने वाले और भोग लगाने वाले पर ही प्रसन्न होने लगा तो फिर यही मार्ग हर किसी को पसन्द आने लगेगा। फिर कोई क्यों उस सद्धर्म के नाम पर कष्ट सहने को प्रस्तुत होगा जिसमें सर्वस्व त्याग और तिल-तिल कर जलने की अग्निपरीक्षा में होकर गुजरना पड़ता है।

फूलों की सुगन्ध हवा के प्रतिकूल नहीं फैलती पर सद्गुणों की कीर्ति दसों दिशाओं में फैलती है।

आस्तिकता अर्थात् चरित्रनिष्ठा

इन्हीं मान्यताओं का फल आज हम यह देख रहे हैं कि पूजा-अर्चना में बहुत धन और समय खर्च करने वाले व्यक्ति भी चरित्रिक दृष्टि से बहुत गये-गुजरे देखे जाते हैं। मन्दिर झाँकी, भजन-कीर्तन में बहुत उत्साह दिखाने वाले भी गुप्त-प्रकट रूप से बुरी तरह पाप पंक के डूबे रहते हैं। 'जो कुछ होता है ईश्वर की इच्छा से ही होता है'-ऐसा मानने वाले आलसी और अकर्मण्य बनकर अपनी हीन स्थिति का दोष ईश्वर को लगाते रहते हैं और प्रगति के लिए प्रतीक्षा करते रहते हैं कि जब कभी ईश्वर की इच्छा हो जाएगी तभी अनायस सब कुछ हो जाएगा। ऐसे लोग अनीति और अत्याचारों को भी ईश्वरेच्छा मानकर चुपचाप सहते रहते हैं। वे किसी दीन-दुःखी और निराश्रित की सेवा-सहायता करने से भी इसीलिए विमुख रहते हैं कि इससे ईश्वर की इच्छा को विरोध होगा। इन्हीं मान्यताओं के आधार पर एक हजार वर्ष तक हम विदेशी आक्रमणकारियों के बर्बर अत्याचार सिर झुकाये सहते रहे। सोमनाथ मंदिर की अपार सम्पति लूटते देखकर हमें भगवान की प्रार्थना करने के सिवाय कर्तव्यपालन का कोई अन्य मार्ग न सूझा। आस्तिकता का असली स्वरूप भुला कर जो अविवेकपूर्ण धारणा हमने अपनाई, उस के कारण हम वस्तुतः ईश्वर से अधिकाधिक दूर होते गये। आस्तिकता के नाम पर हमने दिखावटी पूजा-पाठ को जो भाव अपनाया उससे हमने पाया कुछ नहीं, केवल खोया ही खोया।

ऐसे विषम समय में तत्त्वदर्शी लोग भारी पीड़ा अनुभव कर रहे थे कि क्या इन काली घटाओं को चीरकर फिर कभी सच्ची आस्तिकता

का सूर्य उदय होगा ? यह प्रार्थना ईश्वर ने सुनी और वह दिन फिर सामने आया जिसमें जन साधारण को आस्तिकता का सच्चा स्वरूप समझने का अवसर मिल सके। युग-निर्माण योजना को आस्तिकता के पुनरुद्धार का आन्दोलन ही कहना चाहिए। कहते हैं कि किसी समय नारद जी ने भक्ति का घर-घर प्रचार करने का व्रत लिया था और वे अथक परिश्रम करके सारी पृथ्वी पर अनवरत भ्रमण करते हुए समस्त नर-नारियों को ईश्वर उपासक बनाने में जुट गये। युग-निर्माण-योजना के जन्मदाता ने भी आस्तिकता की प्रेरणा करोड़ों आत्माओं तक पहुँचाई है और २४ लाख से अधिक व्यक्ति गायत्री के नैष्ठिक उपासक बनाये हैं। अब प्रयत्न यही है कि घर-घर में आस्तिकता की आस्था फलती-फूलती नजर आवे। युग निर्माण योजना का प्रथम लक्ष्य आस्तिकता का प्रसार करना ही है। समस्त हिन्दू जाति को उसकी संस्कृति के उद्गम केन्द्र से परिचित करने और गायत्री के माध्यम से भावनात्मक एकता उत्पन्न करने के लिए जो प्रयत्न किया जा रहा है, उससे जातीय एकता का एक नवीन अरुणोदय होगा और हम चारों वेदों की जननी महाशक्ति गायत्री के साथ-साथ उसके २४ अक्षरों में सन्निहित अपनी महान् संस्कृति को भी समझ सकेंगे जातीय उत्कर्ष की दृष्टि से निश्चय ही यह एक बहुत बड़ा काम होगा।

युग-निर्माण योजना के अन्तर्गत जिस आस्तिकता का प्रसार किया जा रहा है उसमें जप, तप, हवन, पूजन, भजन, ध्यान, कथा, कीर्तन, तीर्थ, पाठ, व्रत, अनुष्ठान आदि के लिए परिपूर्ण स्थान है पर साथ ही समस्त शक्ति लगा कर हर आस्तिक के मन में यह संस्कार

जमाये जा रहे हैं कि ईश्वर को निष्पक्ष, न्यायकारी और घट-घट वासी समझते हुए कुविचारों और दुष्कर्मों से डरें और उनसे बचने का प्रयत्न करें। प्रत्येक प्राणी में ईश्वर को समाया हुआ समझकर उसके साथ सज्जनता-पूर्ण सद्व्यवहार किया जाए। कर्तव्यपालन को ही ईश्वर की प्रसन्नता का सबसे बड़ा उपहार मानें और प्रभु की इस सुरम्य वाटिका-पृथ्वी में अधिकाधिक सुख-शान्ति विकसित करने के लिए एक ईमानदार माली की तरह सचेष्ट बने रहें। अपना अन्तःकरण इतना निर्मल और पवित्र बनाया जाए कि उसमें ईश्वर का प्रकाश स्वयमेव झिलमिलाने लगे। प्रार्थना केवल सद्बुद्धि, सद्गुण, सद्भावना, सहनशीलता, पुरुषार्थ, धैर्य, साहस और सहिष्णुता के लिए आवश्यक क्षमता प्राप्त करने की ही की जाए। परिस्थितियों को सुलझाने और अभावों की पूर्ति के लिए जो साधन हमें मिले हुए हैं उन्हें ही प्रयोग में लाया जाए और संघर्ष का जीवन हँसते-खेलते बिताते हुए मन को संतुलित रखा जाए। ये ही सब आस्तिकता के सच्चे लक्षण हैं। युग निर्माण योजना का प्रयत्न यह है कि इन लक्षणों से युक्त भक्ति और पूजा की भावना को जन-मानस में स्थान मिले और सच्ची आस्तिकता के अपनाने के लिए मानव मात्र का अन्तःकरण उत्साहित होने लगे।

मनुष्य का कल्याण परमपिता परमात्मा की शरण में जाने से ही हो सकता है। असुरता के चगुल से छुड़ाकर देवत्व की ओर अग्रसर होने की प्रवृत्ति ही साधना कहलाती है। साधना से हमारा जीवन सुव्यवस्थित और सुसंस्कृत भी बनता जाता है, पर यह तभी सम्भव होता है, जब हम जड़-विज्ञान तथा स्वार्थपूर्ण दिखावटी आस्तिकता

से बचकर सच्चे स्वरूप में ईश्वर की उपासना करेंगे। युग-निर्माण योजना मानव मात्र के हृदय में सच्ची आस्तिकता उत्पन्न करके उनका हित साधन करने के लिए ही चलाई गई है।

-वाङ्मय ६६-२-५७,५८,५९

महान् अतीत को वापस लाने का पुण्य-प्रयत्न

मनुष्य का अन्तःकरण बदलते ही उसकी दुनिया भी बदल जाती है। अब संसार की परिस्थितियाँ जैसी विकृत हो उठी हैं उनका परिवर्तन होना अनिवार्य है अन्यथा हम दिन-प्रति दिन पतन और कष्ट के खड्डे में गिरते जाएँगे। यह परिवर्तन बाहरी हेर-फेर से संभव नहीं हो सकता वरन् उसके लिए मनुष्य की अन्तःचेतना को ही प्रभावित किया जाना चाहिए। इस प्रकार के बदलाव से हम सब रोग-शोक, क्लेश-कलह, पाप-ताप, आधि-व्याधि से छुटकारा पाने में समर्थ हो सकेंगे। इसके अतिरिक्त अन्य कोई ऐसा उपाय नहीं है। जिससे संसार भर में फैली अशान्ति मिटकर लोगों को सुख-शान्ति का दर्शन हो सके।

युग निर्माण योजना इसी को लेकर कार्यक्षेत्र में उतरी है। इस माध्यम से जनता को सच्चे अर्थों में अध्यात्मवादी बनाने का एक ठोस प्रयत्न किया जा रहा है। इसके द्वारा अनेक कष्ट, संताप तो मिट ही सकेंगे, पर सबसे बड़ा लाभ यह होगा कि भारत की महान् निधि 'अध्यात्म' का सच्चा स्वरूप समझने और उसे अपने व्यवहारिक जीवन में स्थान देने का अलभ्य अवसर सर्व-साधारण को प्राप्त हो सकेगा।

भारतवर्ष यदि अपनी समस्त कठिनाईयों को हल करके संसार का मार्गदर्शन करना चाहे तो उसका एक मात्र आधार अध्यात्म ही है। इसी के द्वारा हमारा भूतकाल महान बन सका था और इसी से भविष्य के उज्ज्वल बनने की आशा भी की जा सकती है। आवश्यकता केवल इस बात की है कि हम व्यावहारिक अध्यात्म का स्वरूप सर्व-साधारण को समझा सकें और उसके प्रत्यक्ष लाभों से लोगों को अवगत करा दें।

अशान्ति के दावानल में जलता हुआ समस्त संसार आज अध्यात्म के अमृत के लिए तरस रहा है। हमें आगे बढ़कर इसी महान तत्व ज्ञान का सच्चा स्वरूप प्रकट करने में अपनी शक्ति को लगाना है। युग-निर्माण योजना अध्यात्मवाद को जन-जन के जीवन में प्रविष्ट करने की व्यावहारिक विधि है। जितनी गहराई तक इसकी संभावनाओं पर विचार किया जाता है उतनी ही अधिक आशा बँधती है और लगता है कि यदि हम इस मार्ग पर दृढ़तापूर्वक चल सके तो प्राचीन काल की तरह भारत पुनः 'स्वर्ग' कहलाने का गौरव प्राप्त कर सकेगा और संसार के अन्य भागों के निवासी यहाँ से सन्मार्ग पर चलने की शिक्षा प्राप्त करके पुनः जगद्गुरु का सम्मान प्रदान करेंगे। खोये हुए अतीत को पुनः वापिस लाने का यह अध्यात्मिक प्रयत्न हमारे लिए आशा की किरण बनकर आया है और उसमें हमें अपना योगदान प्रस्तुत करना ही चाहिए।

—वाङ्मय ६६-२-६३

इस अग्निपरीक्षा को स्वीकारें

सभ्य समाज की रचना इस आदर्शवाद को हृदयगमं करने से ही संभव हो सकती है जिसे हमारे पूर्व पुरुषों ने बड़ी श्रद्धा भावना के साथ अपने जीवन का लक्ष्य बनाये रखा था। हो सकता है कि महानता के मार्ग पर चलते हुए किसी को कष्ट और कठिनाईयों की अग्निपरीक्षा में होकर गुजरना पड़े पर उसे आत्मिक-शान्ति और कर्तव्यपालन की प्रसन्ता हर घड़ी बनी रहती है। इस मार्ग पर चलते हुए व्यक्ति को असुविधा हो सकती है पर समाज का विकास इसी त्याग और बलिदान के ऊपर निर्भर रहता है। चरित्रवान् व्यक्ति ही किसी समाज की सुख-सम्पत्ति होते हैं। हम अतीत काल में विश्व के सुदृढ़ आदर्शवाद के आधार पर ही रहे हैं। अतः जबकि हम अपनी उस पुरानी महानता और उज्ज्वल परम्परा को पुनः लौटाने चले हैं तो इस आदर्शवाद का ही अवलम्बन करना होगा। धैर्य और कर्तव्य को दृढ़तापूर्वक जीवन में धारण करना पड़ेगा।

-वाङ्मय ६६-२-६८

स्वार्थ को नहीं परमार्थ को साधा जाए

स्वार्थ और परमार्थ में बहुत थोड़ा-सा अन्तर है स्वार्थ उसे कहते हैं जो शरीर को तो सुविधा पहुँचाता हो पर आत्मा की उपेक्षा करता हो। चूँकि हम आत्मा ही हैं शरीर तो हमारा वाहन या उपकरण मात्र है इसलिए वाहन या उपकरण को लाभ पहुँचे किन्तु स्वामी दुःख पावे तो ऐसा कार्यक्रम मूर्खतापूर्ण कहा जाएगा। इसके विपरीत परमार्थ में आत्मा के कल्याण का ध्यान प्रधान रूप से रखा जाता है,

आत्मा के उत्कर्ष होने से शरीर को सब प्रकार की सुखी एवं सन्तुष्ट रखने वाली आवश्यक परिस्थितियाँ अपने आप उपस्थित होती रहती हैं। केवल अनावश्यक विलासिता पर ही अंकुश लगता है फिर भी यदि कभी ऐसा अवसर आवे कि शरीर को कष्ट देकर आत्मा को लाभ देना पड़े तो उसमें संकोच न करना ही बुद्धिमानी है, यही परमार्थ है। परमार्थ का अर्थ है परम स्वार्थ।

जिस कार्य के द्वारा तुच्छ स्वार्थ की, शरीर तक सीमित रहने वाले स्वार्थ की पूर्ति होती है वही त्याज्य है। जो स्वार्थ अपनी आत्मा का, शरीर का परिजनों का एवं सारे समाज का हित साधन करता है, वह तो प्रशंसनीय ही है। ऐसा परमार्थ सर्वत्र अभिनंदनीय माना जाता है। वही मनुष्य की सर्वोत्तम दूरदर्शिता का चिह्न भी है। इसी पथ पर चलते हुए इस सुर-दुर्लभ मानव-जीवन का लक्ष्य पूरा हो सकता है।

-वाङ्मय ६६-२-६८, ६९

युग-निर्माण के उपयुक्त प्रबुद्ध व्यक्तियों की आवश्यकता

पीछे तो इसका विस्तार अपरिमित क्षेत्र में होना है। अगणित व्यक्ति, संगठन, देश और समूह इस योजना को अपने-अपने ढंग से कार्यान्वित करेंगे। जिस प्रकार अध्यात्मवाद, साम्यवाद, भौतिकतावाद आदि अनेक 'वाद' कोई संस्था नहीं, वरन् विचारधारा एवं प्रेरणा होती है, व्यक्ति या संगठन इन्हें अपने-अपने ढंग से कार्यान्वित करते हैं, इसी प्रकार युग-निर्माण कार्यक्रम एक प्रकाश-प्रवाह एवं प्रोत्साहन उत्पन्न करने वाला एक मार्गदर्शक बनकर विकसित होगा।

आज 'गायत्री परिवार' उसकी प्रथम भूमिका सम्पादित करने का प्रयत्न मात्र ही कर सकेगा। इतना कार्य कर सकने की क्षमता उसमें मौजूद है यह भली प्रकार सोच-समझकर, नाप तौलकर ही कार्य आरम्भ किया गया है। 'लोकहँसाई' का हमें भी ध्यान है।

-वाङ्मय ६६-२-७२

नई प्रबुद्ध पीढ़ी का अवतरण

ऐसे संस्कारवान बालकों के शिक्षा के लिए नालन्दा, तक्षशिला जैसे विश्वविद्यालयों की आवश्यकता होगी जहाँ का प्रत्येक पाठ, प्रत्येक आचरण, प्रत्येक शिक्षण महामानव बनाने वाला हो। ऐसे विश्व विद्यालय बनाने और चलाने के लिए संभवतः हम इस शरीर से जिन्दा न रहेंगे पर उसकी योजना तो स्वजनों के मस्तिष्क में छोड़ ही जानी होगी। युग निर्माण कार्य महान है उसके लिए महान योजनाएँ प्रस्तुत करनी होंगी। नई पीढ़ी का रचना कार्य प्रबुद्ध युवकों के धर्म विवाहों से आरम्भ होगा। इसे एक प्रचंड आन्दोलन का रूप हमें शीघ्र ही देना होगा।-वाङ्मय ६६-२-७५

सुसंस्कृत व्यक्तियों की आवश्यकता

अब युग की रचना के लिए ऐसे व्यक्तित्वों की ही आवश्यकता है जो वाचालता और प्रचार-प्रसार से दूर रह कर अपने जीवनो को प्रखर एवं तेजस्वी बनाकर अनुकरणीय आदर्श उपस्थित करें और जिस तरह चन्दन का वृक्ष आस-पास के पेड़ों को सुगन्धित कर देता है उसी प्रकार अपनी उत्कृष्टता से अपना समीपवर्ती वातावरण भी सुरभित कर सकें। अपने प्रकाश से अनेकों को प्रकाशवान कर सकें।

धर्म को आचरण में लाने के लिए निस्सन्देह बड़े साहस और बड़े विवेक की आवश्यकता होती है। कठिनाईयों का मुकाबला करते हुए सदुद्देश्य की ओर धैर्य और निष्ठापूर्वक बढ़ते चलना मनस्वी लोगों का काम है। ओछे और कायर मनुष्य दस-पाँच कदम चलकर ही लड़खड़ा जाते हैं। किसी के द्वारा आवेश या उत्साह उत्पन्न किये जाने पर थोड़े समय श्रेष्ठता के मार्ग पर चलते हैं पर जैसे ही आलस्य, प्रलोभन या कठिनाई का छोटा-मोटा अवसर आया कि बालू की भीत की तरह औंधे मुँह गिर पड़ते हैं। आदर्शवाद पर चलने का मनोभाव देखते देखते अस्त-व्यस्त हो जाता है। ऐसे ओछे लोग अपने को न तो विकसित कर सकते हैं और न शान्तिपूर्ण सज्जनता की जिन्दगी ही जी सकते हैं फिर इनसे युग-निर्माण के उपयुक्त उत्कृष्ट चरित्र उत्पन्न करने की आशा कैसे की जाए? आदर्श व्यक्तित्वों के बिना दिव्य समाज की भव्य रचना का स्वप्न साकार कैसे होगा। गाल बजाने वाले, पर उपदेश कुशल लोगों द्वारा यह कर्म सम्भव होता सो वह अब से बहुत पहले ही सम्पन्न हो चुका होता। जरूरत उन लोगों की है जो आध्यात्मिक आदर्शों की प्राप्ति को जीवन की सब से बड़ी सफलता अनुभव करें और अपनी आस्था की सच्चाई प्रमाणित करने के लिये बड़ी से बड़ी परीक्षा का उत्साहपूर्ण स्वागत करें।

—वाङ्मय ६६-२-७६

आदर्श व्यक्तित्व ही किसी देश या समाज की सच्ची समृद्धि माने जाते हैं। जमीन में गड़े धन की चौकसी करने वाले साँपों की तरह तिजारी में जमा नोटों की रखवाली करने वाले कंजूस तो गली-

कूँचों में भरे पड़े हैं। ऐसे लोगों से कोई प्रगति की अपेक्षा नहीं की जा सकती। प्रगति के एकमात्र उपकरण प्रतिभाशाली चरित्रवान व्यक्तित्व ही होते हैं। हमें युग-निर्माण के लिए ऐसा ही आत्माएँ चाहिए। इनके अभाव में सब सुविधा-साधन होते हुए भी अभीष्ट लक्ष्य की प्राप्ति में तनिक भी प्रगति न हो सकेगी।

धन दान नहीं, समयदान

धन का दान करने वाले बहुत हैं। धन के बल पर नहर सड़क बन सकती हैं। लोकमानस को उत्कृष्ट नहीं बनाया जा सकता। यह कार्य सत्पुरुषों के भावनापूर्ण समय दान से ही संभव होगा। युग-निर्माण के लिए धन की नहीं, समय की, श्रद्धा की, भावना की, उत्साह की आवश्यकता पड़ेगी। नोटों के बन्डल यहाँ कूड़े-करकट के समान सिद्ध होंगे। समय का दान ही सबसे बड़ा दान है, सच्चा दान है। धनवान लोग अश्रद्धा एवं अनिच्छा रहते हुए भी मान, प्रतिफल, दबाव या अन्य किसी कारण से उपेक्षापूर्वक भी कुछ पैसे दान खाते फेंक सकते हैं, पर समयदान वही कर सकेगा जिसकी उस कार्य में श्रद्धा होगी। इस श्रद्धायुक्त समय-दान में गरीब और अमीर समान रूप से भाग ले सकते हैं। युग-निर्माण के लिए इसी दान की आवश्यकता पड़ेगी और आशा की जाएगी कि अपने परिवार के लोगों में से कोई इस दिशा में कंजूसी न दिखावेगा।

-वाङ्मय ६६-३-७

युग परिवर्तन की संभावनाएँ साकार होकर रहेंगी

अपनी इन्हीं मान्यताओं और क्रिया पद्धतियों को लेकर युग-निर्माण योजना एक सुनियोजित और सुव्यवस्थित गति से आगे बढ़ती चली जा रही है। दूसरे संगठन या आंदोलन दो आधार लेकर चलते हैं—(१) आर्थिक साधन, (२) तथाकथित बड़े और प्रभावशाली व्यक्तियों का सम्बंध। बड़े कहलाने वाले संगठनों की चमक-दमक हलचल दिख पड़ती हैं, उनमें बड़े आदमियों का बुद्धि-कौशल व्यक्तित्व और धन छाया रहता है। और उसी आधार पर वह आवरण खड़ा रहता है। जड़ बिल्कुल खोखली होती है। नीचे से ईंट निकली की सारा ढाँचा लड़खड़ाकर गिर पड़ता है। कल के बड़े आंदोलन और बड़े संगठन आज विस्मृति के गर्त में गिरते दिखाई पड़ते हैं। युग निर्माण योजना का मूल आधार जीवित भावना सम्पन्न और सुसंस्कारी व्यक्तियों का संग्रह है। इसे एक अद्भुत उपलब्धि ही कहना चाहिए कि एक-एक करके ढूँढ़ते हुए व्यक्तिगत ढूँढ़-खोज परख करते हुए व्यक्तिगत संपर्क के आधार पर ऐसे भावनाशील और आदर्शवादी व्यक्तित्व ढूँढ़ निकाले गये। उन्हें एक मात्र सूत्र में माला की तरह गुँथा गया और एक ऐसी बहुमुखी कार्य पद्धति दी गई जिसके आधार पर वह संघटन प्रचारात्मक, रचनात्मक और संघर्षात्मक विविध प्रवृत्तियों के अपने क्षेत्र में, अपने ढंग से, अपनी योग्यतानुसार चलता रह सके। कार्य करने से ही अभ्यास बढ़ता है, अनुभव होता है और उत्साह उमड़ता है और साहस चलता है। शतसूत्री योजनाओं में संलग्न युग निर्माण परिवार अब ऐसी स्थिति में विकसित हो गया है कि जिन आदर्शों को लेकर यह अभियान आरंभ हुआ था, उसकी संभावना को सफलता के रूप में देखा जा सके।

कार्य भले ही कम हुआ हो, पर कार्यकर्ताओं ने अपने क्षेत्र में असाधारण श्रद्धा अर्जित की हैं, जन-शक्ति को साथ लेकर चलने में आश्चर्यजनक सफलता पाई है। पिछले दिनों की उपलब्धियों पर दृष्टिपात करने से दो तथ्य ऐसे हैं जिन्हें देखते हुए यह विश्वास किया जा सकता है। कि कुछ दिन पहले जिस आन्दोलन को बहस, सनक, कल्पना की उड़ान, छोटे मुँह की बात, असंभव आदि कहकर उपहास उड़ाया जाता था। वह अगले दिनों तक यथार्थता बनने जा रहा है। इसके दो कारण हैं- १. परिवार का आदर्शवादी आस्थाओं के आधार पर गठन। २. जनता की आकांक्षाओं के, युग की माँग के अनुरूप कार्य पद्धति का अपनाया जाना। गाँधी जी का आन्दोलन इन दो कारणों से ही सफल हुआ था। एक तो उन दिनों एक से एक बढ़कर भावनाशील और निर्मल चरित्र व्यक्ति इसमें सम्मिलित हुए थे, दूसरे देश की जनता का बच्चा-बच्चा जिस स्वतंत्रता की आवश्यकता अनुभव करता था। उसी की पूर्ति को लक्ष्य बनाकर कांग्रेस चल रही थी। ठीक यही इतिहास ज्यों का त्यों युग निर्माण योजना दुहरा रही है और ठीक उसी आधार पर उसे जन सहयोग मिल रहा है तथा असंभव समझा जाने वाला लक्ष्य नितांत संभव होता दीख रहा है।

-वाङ्मय ६६-३-२०

जनता की जो आकांक्षायें आज हैं, उसी के अनुरूप युगनिर्माण योजना मार्गदर्शन दे रही है, भावनाओं का परिवर्तन, सृजनात्मक कार्यों में पारस्परिक सहयोग का उत्साहपूर्वक नियोजन, अवांछनीयता से हर क्षेत्र में लड़ पड़ने का शौर्य-साहस यह तीनों ही प्रवृत्तियाँ ऐसी हैं जो एक बार अभरी सो उभरीं। असुरता में ही पनपने की शक्ति हो

सो बात नहीं है, देवत्व में भी आत्मविस्तार की क्षमता है। उसे यदि अवसर मिल सके तो उसका अभिवर्द्धन और भी अधिक द्रुतगति से होता है। एक व्यक्ति दूसरों को बनाए-यही है सच्चा और ठोस आधार।

पोला आधार वह है जिसमें लाउडस्पीकर चिल्लाते और अखबार लंबे-लंबे समाचार छापते हैं। मंच-पंडाल बनते, धुँआधार भाषण होते और पर्चे-पोस्टरों के गुब्बारे उड़ते हैं। किराए पर जुलूस की भीड़ जमा करने का भी अब एक व्यवस्थित धंधा चल पड़ा है। यह फुलझड़ियाँ बिल्कुल बचकानी हैं और आंदोलनों के नाम पर यही तमाशे हर ओर खड़े दिखाई पड़ते हैं। इस विडम्बना के युग में युग-निर्माण योजना अपना अलग आधार लेकर चल रही है। व्यक्ति द्वारा व्यक्ति को बनाया जाना, दीपक द्वारा दीपक को जलाया जाना, यही है अपना सिद्धांत। चंदा माँगते फिरने से काम शुरू करना नहीं वरन् घर से खैरात शुरू करना, स्वयं समय और पैसा खर्च करके अपनी निष्ठा का परिचय देना और उसी से दूसरों में अनुकरण की आकांक्षा उत्पन्न करना यही है अपना वह क्रिया-कलाप जिसने लक्ष्य की ओर द्रुतगति से चलने में कीर्तिमान स्थापित किया है।

-वाङ्मय ६६-३-२१

युग निर्माण योजना की सबसे बड़ी संपत्ति उस परिवार के परिजनों की निष्ठा है, जिसे कूटनीति एवं व्यक्तिगत महत्वाकांक्षाओं के आधार पर नहीं, धर्म और अध्यात्म की निष्ठा के आधार पर बोया, उगाया और बढ़ाया गया है। किसी को पदाधिकारी बनने की इच्छा नहीं, फोटो छपाने के लिए भी तैयार नहीं, नेता बनने के लिए

कोई उत्सुक नहीं, कुछ कमाने के लिए नहीं, कुछ गँवाने के लिए जो आए हों उनके बीच इस प्रकार कल छल छद्म लेकर कोई घुसने का भी प्रयत्न करे तो उस मोर का पर लगाने वाले कौवे को सहज ही पहचान लिया जाता है और चलताकर दिया जाता है। यही कारण है कि इस विकासोन्मुख हलचल में सम्मिलित होने के लिए कई व्यक्तिगत महत्वाकांक्षी आए पर वे अपनी दाल गलती न देखकर वापस लौट गए। यहाँ निस्पृह और भावनाशील, परमार्थ-परायण, निष्ठा के धनी को ही सिर माथे पर रखा जाता है। धूर्तता को सिर पर पाँव रखकर उल्टे लौटना पड़ता है। यह विशेषता इस संगठन में न होती तो महत्वाकांक्षाओं ने अब तक इस अभियान को भी कब का निगलकर हजम कर लिया होता।

अखबारों में अपने लिए कोई स्थान नहीं, उन बेचारों को राजनीतिक हथकंडे और सिनेमा के करतब छापने से ही फुरसत नहीं, धनियों को अपनी यश-लोलुपता तथा धंधे-पानी का कुछ जुगाड़ बनता नहीं दीखता, इस दृष्टि से मिशन को साधनहीन कहा जा सकता है पर निष्ठा से भरे-पूरे और विश्व मानव की सेवा के लिए कुछ बढ़-चढ़कर अनुदान प्रस्तुत करने के लिए व्याकुल अंतःकरण ही अपनी वह शक्ति है जिसके आधार पर देश के नहीं विश्व के कोने-कोने में, घर-घर और जन-जन के मन में इस प्रकाश की किरणें पहुँचने की आशा की जा रही है। एक से दस-एक से दस -एक से दस की रट लगाए हुए हम आज के थोड़े से व्यक्ति कल जन मानस पर छा जायँगे। इसे किसी को आश्चर्य नहीं मानना चाहिए। लगन संसार की सबसे

बड़ी शक्ति है। आदर्शों को कार्यान्वित करने के लिए आतुर व्यक्ति भी यदि युग परिवर्तन के स्वप्न साकार नहीं कर सकते तो फिर और कौन उस भार को वहन करेगा ?

इन आरंभिक दिनों में कुछ साधन मिल जाते तो कितना अच्छा होता। समाचार पत्रों ने अभियान का महत्व समझा होता और इन उदीयमान प्रवृत्तियों के प्रचार कार्य को अपनी कुछ पंक्तियों में स्थान दिया होता तो और भी अधिक सुविधा होती। कुछ साधन सम्पन्न ऐसे भी होते जो यश का बदला पाने की इच्छा के बिना पैसे से सहायता कर सके होते, कुछ कलाकार, साहित्यकार, गायक ऐसे मिले होते जो धन बटोरने की मृगतृष्णा में अपनी विभूतियाँ भी खो बैठने की अपेक्षा उन्हें नव निर्माण के लिए समर्पित कर सके होते, कुछ प्रतिभाशाली लोग राजनीति की कुचालों में उलझे बार-बार लातें बटोरते फिरने की ललक छोड़कर अपने व्यक्तित्व को लोक-मंगल की इस युग पुकार को सुन सकने में लगा सके होते तो कितना अच्छा होता।

पर अभी उनका समय कहाँ आया है ? फूल खिलने में देर है। अभी तो यहाँ बोने के दिन चल रहे हैं। भौर, मधुमक्खियों, तितलियाँ अर्येंगी तो बहुत, कलाप्रेमी और सौन्दर्यपारखी भी चक्कर काटेंगे, पर इन बुआई के दिनों में एक घड़ा पानी और एक थैला खाद लेकर कौन आ सकता है ? इस दुनिया में सफलता मिलने पर जयमाला पहनाई जाती है। इसके लिए प्रयास कर रहे साधनहीन को तो व्यंग्य-उपहास और तिरस्कार का ही पात्र बनाया जाता है। यह आशा हमें भी करनी चाहिए।

साधन संपन्न का यह स्वभाव होता है कि वह हर विशेषता को, हर प्रतिभा को अपने इशारे पर चलाना चाहता है पर विश्व को नई दिशा देने वाले उनके पीछे चलने के लिए नहीं, उन्हीं की विकृति दिशा को सुधारने के लिए सन्नद्ध हैं। ऐसी स्थिति में उनमें खीज, असहयोग उपहास तथा विरोध के भाव उठें, तो कोई आश्चर्य नहीं।

निराशा की कोई बात नहीं। अपना उपास्य जन देवता है। उसकी शक्ति सबसे बड़ी है। जन मानस का उभार शक्ति का स्रोत है। वह जिधर निकलता है उधर ही रास्ता बनता चला जाता है। नव-निर्माण की गंगा का अवतरण अपना रास्ता भी बना ही लेगा। मनुष्य में देवत्व के उदय और धरती पर स्वर्ग के अवतरण का प्रयास आज अपने शैशव में भी आशा और विश्वास की हरियाली लहलहा रही है। कल उस पर फूल और फल भी लदे हुए देखे जा सकेंगे। एक से दस बनने की जो शपथ इस मिशन के परिजनों ने ली है वह अपना रंग दिखाएगी। असंभव दीखने वाला कार्य संभव हो सकेगा। -वाङ्मय ६६-३-२१, २२

हमें स्वयं भी विभूतिवान सिद्ध होना होगा

अभी इन दिनों युग-परिवर्तन के प्रचण्ड अभियान का शुभारम्भ हुआ है। ज्ञान यज्ञ की हुताशन वेदी पर बौद्धिक, नैतिक एवं सामाजिक क्रान्ति की ज्वाला प्रज्ज्वलित करने वाली आज्याहुतियाँ दी जा रही हैं। जन्मेजय के नाग यज्ञ की तरह फुफकारते हुए विषधर तक्षकों को ब्रह्म तेजस्, स्वाहाकार द्वारा घसीटा ही जायगा तो उस रोमांचकारी दृश्य को देखकर दर्शकों के होश उड़ने लगेंगे। वह दिन दूर नहीं

जब आज की अरणि मन्थन से उत्पन्न स्फुल्लिंग शृंखला कुछ ही समय उपरान्त दावानल बनकर कोटि-कोटि जिह्वाएँ लपलपाती हुई वीभत्स जंजालों से भरे अरण्य को भस्मसात करती हुई दिखाई देंगी।

अभी भारत में-हिन्दू धर्म में-धर्ममन्त्र से, युग निर्माण परिवार में यह मानव जाति का भाग्य निर्माण करने वाला अभियान केन्द्रित दिखाई पड़ता है। पर अगले दिनों उसकी वर्तमान सीमाएँ अत्यन्त विस्तृत होकर असीम हो जायेंगी। तब किसी संस्था-संगठन का नियन्त्रण निर्देश नहीं चलेगा वरन् कोटि-कोटि घटकों से विभिन्न स्तर के ऐसे ज्योति-पुंज फूटते दिखाई पड़ेंगे, जिनकी अकूत शक्ति द्वारा सम्पन्न होने वाले कार्य अनुपम और अदभुत ही कहे जायेंगे। महाकाल ही इस महान परिवर्तन का सूत्रधार हैं और वही समय अनुसार अपनी आज की मंगलाचरण थिरकन को क्रमशः तीव्र से तीव्रतर, तीव्रतम करता चला जायगा। ताण्डव नृत्य से उत्पन्न गगनचुम्बी ज्वाज्वल्यमान आग्नेय लपटों द्वारा पुरातन को नूतन में परिवर्तित करने की भूमिका किस प्रकार, किस रूप में अगले दिनों सम्पन्न होने जा रही हैं, आज उन सबको सोच सकना, कल्पना परिधि में ला सकना सामान्य बुद्धि के लिए प्रायः असंभव ही हैं। फिर भी जो भवतव्यता है वह होकर रहेगी। युग को बदलना ही है, आज की निविड़ निशा के कल का प्रभात कालीन अरूणोदय में परिवर्तन हो कर रहेगा। -वाङ्मय ६६-३-३९, ४०

हम इन दिनों विभूतियों को प्रेरणा देने के कार्य में लगे हैं और यह प्रयास आरंभ भले ही छोटे क्षेत्र से हुआ हो पर अब अधिकाधिक

व्यापक विस्तृत होता चला जा रहा है। युग परिवर्तन की भूमिका लगभग महाभारत जैसी होगी। उसे लंकाकाण्ड स्तर का भी कहा जा सकता है। स्थूल बुद्धि इतिहासकार इन्हें भारतवर्ष के अमुक क्षेत्र में घटने वाला घटनाक्रम भले ही कहते रहें पर तत्त्वदर्शी जानते हैं कि अपने-अपने समय में इन प्रकरणों का युगान्तरकारी प्रभाव हुआ था। अब परिस्थितियाँ भिन्न हैं। अब विश्व का स्वरूप दूसरा है। समस्याओं का स्तर भी दूसरा ही होगा, भावी युग परिवर्तन प्रक्रिया का स्वरूप और माध्यम भूतकालीन घटनाक्रम से मेल नहीं खा सकेगा किन्तु उसका मूलभूत आधार वही रहेगा जो कल्प-कल्पान्तरों से युग-परिवर्तनकारी उपक्रमों के अवसर पर कार्यान्वित होता रहा है।

युग निर्माताओं की इस सृजन सेना के अधिनायकों के उत्तरादयित्व का भार वहन कर सकने में समर्थ आत्माओं को साधना-सत्रों में अभीष्ट अनुदान के लिए बुलाया जाता रहता है। यही प्रक्रिया विकसित होकर विश्वव्यापी बनने जा रही है। परिवर्तन न तो भारत तक सीमित रहेगा और न उसकी परिधि हिन्दू धर्म तक अवरुद्ध रहेगी। परिवर्तन विश्व का होना है। निर्माण समस्त जाति का होगा। धरती पर स्वर्ग का अवतरण और मनुष्य में देवत्व का उदय किसी देश, जाति, धर्म, वर्ग तक सीमित नहीं रह सकता उसे असीम ही बनना पड़ेगा। इन परिस्थितियों में युगनिर्माण प्रक्रिया का विश्वव्यापी होना एक वास्तविक तथ्य है।—वाङ्मय ६६-३-४०, ४१

युग परिवर्तन की घड़ियों में भगवान अपने विशेष पार्षदों को महत्वपूर्ण भूमिकाएँ सम्पादित करने के लिए भेजता है। युग-निर्माण

परिवार के परिजन निश्चित रूप से उसी शृंखला की अविच्छिन्न कड़ी है। उस देव ने उन्हें अत्यन्त पैनी सूक्ष्म-दृष्टि से ढूँढा और स्नेह सूत्र में पिरोया है। यह कारण नहीं है। यो सभी आत्माएँ ईश्वर की सन्तान हैं, पर जिन्होंने अपने को तपाया निखारा है उन्हें ईश्वर का विशेष प्यार-अनुग्रह उपलब्ध रहता है। यह उपलब्धि भौतिक सुख-सुविधाओं के रूप में नहीं है यह लाभ की प्रवीणता और कर्मपरायणता के आधार पर कोई भी आस्तिक-नास्तिक प्राप्त कर सकता है। भगवान् जिसे प्यार करते हैं उसे परमार्थ प्रयोजन के लिए स्फुरणा एवं साहसिकता प्रदान करते हैं। सुरक्षित पुलिस एवं सेना आड़े वक्त पर विशेष प्रयोजनों की पूर्ति के लिए भेजी जाती है। युग-निर्माण परिवार के सदस्य अपने को इसी स्तर के समझें और अनुभव करें कि युगान्तर के अति महत्त्वपूर्ण अवसर पर उन्हें हनुमान अंगद जैसी भूमिका सम्पादित करने को यह जन्म मिला है। इस देवसंघ में इसलिए प्रवेश हुआ है। युग-परिवर्तन के क्रिया-कलाप में असाधारण आकर्षण और कुछ कर गुजरने के लिए सतत अन्तःस्फुरण का और कुछ कारण हो ही नहीं सकता। हमें तथ्य को समझना चाहिए। अपने स्वरूप और लक्ष्य को पहचानना चाहिए और आलस्य प्रमाद में बिना एक क्षण गँवाये अपने अवतरण का प्रयोजन पूरा करने के लिए अविलम्ब कटिबद्ध हो जाना चाहिए। इस से कम में युग-निर्माण परिवार के किसी सदस्य को शान्ति नहीं मिल सकती। अन्तरात्मा की अवज्ञा उपेक्षा करके जो लोभ-मोह के दलदल में घुसकर कुछ लाभ उपार्जन करना चाहेंगे तो भी अन्तर्द्वन्द्व उन्हें उस

दिशा में कोई बड़ी सफलता मिलने न देगा। माया मिली न राम वाली द्विविधा में पड़े रहने की अपेक्षा यही उचित है दुनियादारी के जाल-जंजाल में घुसते चले जाने वाले अन्धानुयायियों में से अलग छिटक कर अपना पथ स्वयं निर्धारित किया जाय। अग्रगामी पंक्ति में आने वालों को ही श्रेय भाजन बनने का अवसर मिलता है महान प्रयोजनों के लिए भीड़े तो पीछे भी आती रहती हैं और अनुगामियों से कम नहीं कुछ अधिक ही काम करती हैं परन्तु श्रेय-सौभाग्य का अवसर बीत गया होता है। मिशन के सूत्र संचालकों की इच्छा है कि युग निर्माण परिवार की आत्मबल सम्पन्न आत्मायें इन्हीं दिनों आगे आयें और अग्रिम पंक्ति में खड़े होने वाले युग-निर्माताओं की ऐतिहासिक भूमिकायें निबाहें। इन पंक्तियों का प्रत्येक अक्षर इसी संदर्भ से ओत-प्रोत समझा जाना चाहिए।- वाङ्मय ६६-३-४१

संसार में दिन-दिन बढ़ती जाने वाली उलझनों का एकमात्र कारण मनुष्य के आन्तरिक स्तर, चरित्र दृष्टिकोण एवं आदर्श का अधोगामी होना है। इस सुधार के बिना अन्य सारे प्रयत्न निरर्थक हैं। बढ़ा हुआ धन, बढ़े हुये साधन, बढ़ी हुई सुविधाएँ कुमार्गगामी व्यक्ति को और भी अधिक दुष्ट बनायेंगी। इन बढ़े हुए साधनों का उपयोग वह विलासिता, स्वार्थपरता, अहंकार की पूर्ति और दूसरों के उत्पीड़न में ही करेगा। असंयमी मनुष्य को कभी रोग-शोक से छुटकारा नहीं मिल सकता, भले ही उसे स्वास्थ्य सुधार के कैसे ही अच्छे अवसर क्यों न मिलते रहें।

-वाङ्मय ६६-३-५३

अपना विशिष्ट कर्तव्य और उत्तरदायित्व

भगवान ऐसे महान् उत्तरदायित्वों की पूर्ति कुछ विशिष्ट आत्माओं के कंधों पर डालता है। युग-निर्माण परिवार के सदस्य-गण एक ऐसी ही सुदृढ़ शृंखला की कड़ियाँ हैं, जिन्हें अपने पूर्व संचित उच्च संस्कारों के कारण वह गौरव प्राप्त हुआ है कि वे भगवान की इच्छापूर्ण करने वालों की अगली पंक्ति में खड़े होने का सौभाग्य और गर्व-गौरव प्राप्त कर सकें। इस उत्तरदायित्व का भार अपने कंधों पर जब इच्छा, अनिच्छा से आ ही गया तो उचित यही है कि उसकी पूर्ति में तत्परतापूर्वक जुटा जाय।

परिवर्तन होकर रहेगा

ऐसे निष्ठावान व्यक्ति जो आदर्शवाद को केवल पसन्द ही न करें वरन् उसे व्यवहार में लाने के लिए कटिबद्ध हों और उस मार्ग में चलते हुए यदि असुविधाओं से भरा हुआ जीवन व्यतीत करना पड़े तो उसके लिए भी तत्पर रहें, महापुरुष कहलाते हैं। उन्हें ही इस धरती के धर्मस्तंभ कहते हैं। विख्यात होना न होना अवसर की बात है। नींव में रखें पत्थरों को कोई नहीं जानता, किन्तु शिखर के कँगूरे सबको दीखते हैं पर श्रेय इन कँगूरों को नहीं नींव के पत्थरों को ही रहता है। कँगूरे टूटते-फूटते और हटते, बदलते रहते हैं पर नींव के पत्थर अडिग हैं। जब तक भवन रहता है तब तक ही नहीं वरन् उसके नष्ट हो जाने के बाद भी वे जहाँ के तहाँ बने रहते हैं। इसी प्रवृत्ति के बने हुए लौह-स्तंभों को युग-पुरुष कहते हैं। उन्हीं के द्वारा युगों का निर्माण एवं परिवर्तन व्यवस्था सम्पन्न होती है।

—वाङ्मय ६६-४-३

विश्व शान्ति का विशाल भवन खड़ा करने के लिए ऐसे ही लौह स्तंभों की आवश्यकता है जो बातें बनाने में, यश लूटने में दक्ष न हों वरन् त्याग और बलिदान का दबाव सहने के लिए भी तैयार रहें। ताजमहल विश्व की सबसे सुन्दर और सुदृढ़ इमारतों में एक है। उसकी नींव में लाखों मन लोहा और सीसा लगाया गया है। ताकि उसकी मजबूती और स्थिरता में कमी न आवे। उसके हर पत्थर को परखकर लिया गया है— जिसे लगाया गया है उसे उचित रूप से घिसा और चमकाया गया है। नक्कासी करते समय जो पत्थर छैनी और हथौड़ों की चोटें शान्ति पूर्वक सहते रहे हैं वे ही उस सुन्दर इमारत में सुज्जित रूप से प्रतिष्ठा प्राप्त कर रहे हैं। कारीगर की चोटें जो नहीं सह सके; टूट गये, उनको कूड़े-कचरे में ही स्थान मिल सका।

युग निर्माण आज की सबसे बड़ी आवश्यकता है। विश्व-व्यापी विपन्नताओं का समाधान और किसी प्रकार संभव नहीं, रास्ता एक ही है—केवल एक। जब तक मानव मन में भरी हुई दुष्प्रवृत्तियों को हटाकर उनके स्थान पर सत्प्रवृत्तियों की प्रतिष्ठापना न होगी तब तक संसार की एक भी उलझन न सुलझेगी।

प्रवृत्तियों के परिवर्तन की दिशा में हर मनुष्य चाहे वह कितना ही अयोग्य एवं तुच्छ क्यों न हो, कुछ न कुछ कर सकता है। ऐसा कर्तृत्व जन-मानस में उत्पन्न किया जाना चाहिए। प्रश्न केवल यह है कि इसे करे कौन? नींव का पत्थर, नाव का पतवार, रेल की पटरी, मोटर का पेट्रोल देखने में तुच्छ भले ही लगें पर अनिवार्य आवश्यकता तो उन्हीं की रहती है। यह आवश्यकता पूर्ण न हो तो

इन शक्तिशाली यंत्रों की गतिविधियाँ रुकी ही पड़ी रहेंगी। आज प्रगति का अभियान इसीलिए रुका पड़ा है कि उसे अग्रगामी बनाने वाले लौह-पुरुष दृष्टिगोचर नहीं होते। सस्ती वाहवाही लूटने वाले लुटेरे हर जगह मौजूद हैं, नाम बड़ाई के भूखे भिखारी जनसेवा के सदावर्त से अपनी भूख बुझाने के लिए इधर-उधर मारे-मारे फिरते रहते हैं पर बीज की तरह गलकर विशाल वृक्ष के रूप में परिणत जो हो सकें ऐसा साहस किन्हीं विरलों में होता है।

युग निर्माण की नींव खोदी जा चुकी है और उस विशाल भवन के निर्माण की योजना भी बन चुकी है। अब केवल नींव में रखे जाने वाले पत्थरों की तलाश है। भारत भूमि की विशेषता और ऋषि रक्त की महत्ता पर जब ध्यान देते हैं तो यह विश्वास सहज ही हो जाता है कि कर्तव्य की पुकार सुनने और उसे पूरा करने वाले तत्व यहाँ सदा से रहे हैं और अब भी उनका बीज नाश नहीं हुआ है।

यह सब कैसे, किसके द्वारा, किस तरह होगा इसकी एक रूपरेखा युग निर्माण योजना ने प्रस्तुत की है। प्रस्तुत कर्ता का दावा है कि अगले दिनों इसी पटरी पर प्रगति की रेलगाड़ी द्रुतगति से दौड़ेगी। दूसरे विकल्प सोचे भले जायँ पर वे सफलता के लक्ष्य तक पहुँच न सकेंगे। समय बतायेगा कि इन पंक्तियों में प्रस्तुत भविष्य की रूपरेखा उतनी सही, सार्थक और सफल होकर रही और उसने विश्व मानव के परित्राण में कितना महत्त्वपूर्ण योगदान दिया। योजना के पीछे ईश्वरीय इच्छा या प्रेरणा की झाँकी जो देखते हैं उन्हें भविष्य सही सोचने वाला ही प्रमाणित करेगा।

—वाङ्मय ६६-४-४

हमें नव-निर्माण के लिए इसी मनोभूमि की निष्ठा तथा दृष्टि को विकसित करने की चेष्टा करनी चाहिए। नव-निर्माण की अपनी योजना इसी पृष्ठभूमि पर बनाई जा रही है। हम मानकर चलते हैं कि शासन तथा व्यवस्था की दृष्टि से प्रजातन्त्री शासन पद्धति अन्य सब पद्धतियों से अच्छी है। हम यह मानकर चलते हैं कि मनुष्य केवल भौतिक साधनों की सुव्यवस्था से ही सन्तुष्ट नहीं रह सकता, उसे आत्मिक प्रगति की भी आवश्यकता है। इसके लिए, धर्म, संस्कृति और अध्यात्म को जीवित रहना चाहिए। हम नहीं चाहते कि शासन इन तत्वों को नष्ट करके मनुष्य को मात्र मशीन बना दे। हम यह मानकर चलते हैं कि हर मनुष्य के भीतर पशुता की तरह देवत्व भी विद्यमान है और उसे विश्वास है कि मनुष्य की सर्वोपरि शक्ति 'विचारणा' है उसे यदि उत्कृष्टता की दिशा में मोड़ा जा सके तो धरती पर स्वर्ग अवतरण और मनुष्य में देवत्व के उदय की सम्भावनाएँ मूर्तिमान हो सकती हैं। जन-सहयोग के द्वारा एकत्रित अनुदानों को हम पहाड़ों से ऊँचा और समुद्र से विशाल मानते हैं और यह विश्वास करते हैं कि यदि इस स्वेच्छा-सहयोग को लोक-मंगल के लिए मोड़ा जा सके तो नव-निर्माण के लिए जितने साधनों की आवश्यकता है उससे अधिक ही मिल सकते हैं। हम जानते हैं कि विश्व का नैतिक पुनरुत्थान करने की सर्वतोमुखी क्षमता से सम्पन्न भारत जैसे महान परम्पराओं वाले देश के लिए प्रजातन्त्र प्रणाली ही उपयुक्त हो सकती है, बशर्ते कि इस पद्धति को पश्चिम की नकलची न रहने देकर अपने देश की परिस्थिति के अनुरूप ढाल लिया जाय।

-वाङ्मय ६६-४-९

प्रगतिशील समाज का आधार और स्वरूप

व्यक्ति-निर्माण के लिए हमें गुण, कर्म, स्वभाव में घुसी हुई अवांछनीय दुष्प्रवृत्तियों को हटाना होगा। जीवन और उसके उद्देश्य को समझना होगा तथा किस आधार पर किसलिए, किस-प्रकार जिया जाय इस दर्शन-दृष्टि को परिष्कृत करना होगा। आज पशु और पिशाचों जैसी जीवन-दृष्टि बनती चली जा रही है, चिन्तन की प्रणाली ऐसी विकृत बन चली है कि अशुद्ध और अवांछनीय तत्व ही ग्राह्य दीखते हैं। महानता का अमृत पीने की रुचि नहीं रही, निकृष्टता का विष उल्लासपूर्वक पिया जा रहा है। धिनौने जीवनक्रम में सरसता लगती है।

आदर्शवादिता के आधार पर अनुकरणीय जीवन जीने के लिए किसी में उमंग नहीं दीखती। सोचने और प्रेरणा देने वाला अन्तःकरण मानो माया-मूर्छा में ग्रस्त होकर एक प्रकार से दिग्भ्रान्त ही बन गया हो, ऐसी है आज के व्यक्ति की स्थिति। इसे बदले बिना कोई रास्ता नहीं। घटिया व्यक्ति घटिया परिस्थितियाँ पैदा करेंगे और उसके परिणाम दुःखदायी ही उत्पन्न होंगे। विश्व के सामने प्रस्तुत अगणित समस्याएँ वस्तुतः एक ही विष बीज से उत्पन्न वल्लरियाँ हैं। मानवीय आदर्शों की मात्रा चिन्तन और कर्तृत्व में से जितनी घटती चली जायगी, वातावरण उतना ही विषाक्त होता जायगा और विपत्तियों का अन्धकार उतना ही सघन होता जायगा। आज यही हो रहा है सो परिणाम भी सामने है।

संसार को सुखी बनाने के लिए उपार्जन, चिकित्सा, शिक्षा, वाहन, शिल्प, कला, विज्ञान, विनोद आदि के साधनों को बढ़ाया

जाना चाहिए। पर यह भूलना नहीं चाहिए कि कुबेर जैसी सम्पदा और इन्द्र जैसी सुविधा भी यदि हर व्यक्ति के पीछे जुटा दी जाय तो भी भावनात्मक स्तर ऊँचा उठे बिना चैन से रहना और शान्ति से रहने देना संभव न हो सकेगा। चिन्तन में असुरता कर्तृत्व में दुष्टता के अंश यदि बने ही रहे तो हर व्यक्ति अपने और दूसरों के लिए केवल संकट ही उत्पन्न करता रहेगा। इसलिए हमें मूल बात पर ध्यान देना चाहिए। जन-मानस के भावनात्मक परिष्कार को प्राथमिकता देनी चाहिए। यह एक ही उपाय है जिसके आधार पर विश्व शान्ति की आवश्यकता पूरा कर सकना वस्तुतः सम्भव एवं सुलभ हो सकता है। युग-निर्माण योजना ने सर्व-साधारण का ध्यान इसी ओर खींचा है और ऐसे प्रयोगात्मक प्रयत्न शुरू किये हैं जिन्हें बड़े साधनों से बड़े परिणाम में आरम्भ किया जा सके तो निर्माण की सही दिशा मिल सकती है और आज की नारकीय परिस्थितियों को कल सुख-शान्ति भरे वातावरण में परिवर्तित किया जा सकता है।

व्यक्ति का चिन्तन और कर्तृत्व किस आधार पर बदला जाय इसकी संक्षिप्त चर्चा भी की जा चुकी है, दशा यही है। जब विस्तार में जाना होगा और काम को हाथ में लेना होगा तब इसमें हेर-फेर भी किया जा सकता है आज तो हमें इतना भर जानना है कि मनुष्यता के साथ घुल गये- पशुओं को और असुरता के अंशों को बहिष्कृत करना और मानवीय चेतना में देवत्व का अधिकाधिक समावेश करना विश्व निर्माण का प्रथम चरण होगा। आज या आज से हजार वर्ष बाद जब भी हमें सही दिशा मिलेगी श्रीगणेश यहीं से करना पड़ेगा। चिन्तन को प्रभावित करने वाले समस्त स्रोतों को हमें अपने

अधिकार में करना चाहिए अथवा अलग से उन आधारों को उच्च स्तरीय प्रेरणा देने की सामर्थ्य बनाकर खड़ा करना होगा ताकि उनकी तुलना में इन दिनों लोक चेतना को कुमार्गगामिता की ओर खींचने वाले माध्यम पिछड़ने और परास्त होने की स्थिति में चले जायँ।

व्यक्ति की तरह समाज का निर्धारण-निर्माण भी नये सिरे से करना होगा। पिछले अज्ञानान्धकार युग ने हमें अगणित ऐसी विकृत प्रथा-परम्पराएँ दी हैं जिनके कारण व्यक्तियों को कुमार्गगामी और पतनोन्मुख होने के लिये विवश होना पड़ रहा है। वह ठीक है कि प्रखर व्यक्तित्व समाज को बदल सकते हैं पर यह उससे भी अधिक ठीक है कि समाज के प्रचलित ढर्रों के अनुरूप जनसमूह ढलता चला जाता है। जो हो रहा है उसे देखते-देखते मनुष्य उसका अभ्यस्त हो जाता है। और फिर उसे वही ढर्रा उचित एवं प्रिय लगने लगता है। तब उसका विरोध करते भी नहीं बनता। मनुष्य की प्रगति कुछ ऐसी ही है आज अनेक अवांछनीय प्रथा-परम्पराएँ हमारे समाज में प्रचलित हैं पर उनकी बुराई न तो सूझती है और न हटाने की जरूरत लगती है।

न्याय, औचित्य एवं विवेक द्वारा हमें समाज शरीर में प्रवृष्टि उन तत्वों पर दृष्टि डालनी होगी जो उसे निरन्तर विषैला और खोखला करते चले जा रहे हैं। खोजने पर यह तत्व आसानी से सामने आ जाते हैं। मनुष्य-मनुष्य के बीच उपस्थित की गई नीच-ऊँच की मान्यता ऐसी सामाजिक बुराई है जिसके पीछे कोई तर्क, न्याय या औचित्य नहीं है। घोड़ा, गधा, बैल, हिरन आदि की तरह मनुष्य भी

एक जाति है। देश, काल, प्रकृति, जल, वायु के कारण रंग और आकृतियों में थोड़ा अन्तर आता है पर इससे उसकी जाति में अन्तर नहीं आता। भाषा, प्रकृति आदि के आधार पर सुविधा के लिए जाति भेद करने भी हों तो भी उनमें नीच-ऊँच ठहराये जाने का कोई कारण नहीं। दुष्ट-दुश्चरित्रों को नीच और श्रेष्ठ सज्जनों का ऊँचा कहा जाय यहाँ तक तो बात समझ में आती है पर देश विशेष में पैदा होने के कारण किसी को नीच, किसी को ऊँचा माना जाय यह मान्यता सर्वथा अन्यायमूलक है। इससे नीचे समझे जाने वाले वर्गों का स्वाभिमान गिरता और प्रगति के स्वाभाविक अधिकारों से उन्हें वंचित रहना पड़ता है। कुछ लोग अकारण अपने को उच्च मानने का अहंकार करते हैं।

अपने देश में यह जन्म-जातिके साथ जुड़ी हुई ऊँच-नीच की मान्यता अविवेक के अन्तिम चरण तक पहुँच चुकी है। एक जाति के अन्तर्गत भी उपजातियों के भेद से लोग परस्पर ऊँच-नीच का भेद करते हैं। अछूत कहे जाने वाले लोग भी अपनी जन-जातियों में ऊँच-नीच का अन्तर मानते हैं। इस मान्यता ने सारे समाज को विसंगठित कर दिया। नारंगी बाहर से एक दीखती है भीतर से उसमें फाँकों में से फाँके निकलती चली जाती हैं, इसी प्रकार एक भारतीय समाज कहने भर को एक है वस्तुतः यह जाति भेद ऊँच-नीच अन्तर के कारण हजारों, लाखों टुकड़ों में बँटा हुआ विशृंखलित समाज है। ऐसे लोग कभी संगठित नहीं हो सकते जहाँ संगठन न होगा वहाँ न समर्थता दिखाई देगी, न प्रगति की व्यवस्था बनेगी।

इस सामाजिक अन्याय का फल है कि नीच समझे जाने वाले लोग तेजी से हिन्दू धर्म छोड़ते चले जा रहे हैं और खुशी-खुशी विधर्मी बन रहे हैं। यही स्थिति रही तो छोटी कही जाने वाली तिरस्कृत जाति के लोग विधर्मी बन जायेंगे। और अगले दिनों देश में ही सवर्ण हिन्दू अल्पमत में होकर रहेंगे अथवा पाकिस्तान, नागालैण्ड, जैसे टुकड़े कटते चले जायेंगे। समय रहते हमें जन्म जाति के आधार पर प्रतिपादित की जाने वाली नीच-ऊँच की मान्यता के दुष्परिणामों को समझना चाहिए और उसके उन्मूलन का प्रबल प्रयत्न करना चाहिए।

स्वच्छता, समय की पाबन्दी, व्यवस्था, सतर्कता, व्यक्तिगुण हैं। इन्हें सामाजिक मान्यता मिलनी चाहिए। हर सामाजिक प्रक्रिया में इन प्रवृत्तियों को प्रमुखता मिलनी चाहिए ताकि व्यक्तियों को अपनी रीति-नीति तदनुरूप ढालने के लिये विवश होना पड़े। दफ्तरों से लेकर विश्राम गृहों तक हर जगह समय पर काम हो, समय चुकने वाले अपने प्रमाद का समुचित दण्ड पायें ताकि वे बार-बार वैसी भूल न करें। गन्दगी और अव्यवस्था चाहे वह घरों में हो या सार्वजनिक स्थानों पर, व्यक्ति की दृष्टि में खटके और हर देखने वाला उसे हटाने का प्रयत्न करे। भीड़ लगाने के स्थान पर हर काम में लाइन लग कर काम करने का अपना स्वभाव बन जाय। जिसने जिस समय जिस काम को करने का वायदा किया है वह सामर्थ्य भर उस वचन की पाबन्दी का ध्यान रखे ताकि किसी का समय बर्बाद न होने पावे। समय की बर्बादी को धन बर्बाद करने जैसा ही अनुचित माना जाय। प्रगतिशील वर्गों जैसे यह सद्गुण अपनी सामाजिकता के भी अंग बनने चाहिए।—वाङ्मय ६६-४-१३, १४

शान्तिकुञ्ज, हरिद्वार (उत्तराखण्ड) 249411, फोन- 01334-260602